Volume : 4 | Issue : 11 | November 2015 • ISSN No 2277 - 8179

Research Paper

प्राचीन भारतीय इतिहास में पारिवारिक जीवन एवं नातेदारी संबंध

History

KEYWORDS : मैंने उद्देश्यपूर्ण निर्देशन पद्धति और अन्वेषण विधि से प्राचीन भारतीय इतिहास की विवाह, पारिवारिक जीवन एवं नातेदारी का अध्ययन किया है।

Purnima Kumari इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार

ABSTRACT

किसी राष्ट्र के निमार्ण में उस राष्ट्र के संगठित, सुव्यवस्थित एवं मधुर पारिवारिक जीवन का अत्यधिक योगदान होता है। प्राचीन भारत में अनादि काल से संयुक्त व्यवस्था रही है। सामान्य रूप से संयुक्त परिवार हिन्दुओं का विशेष लक्षण रहा है। राधाकमल मुखर्जी प्राचीन काल में संयुक्त परिवार के महत्व को अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि "संयुक्त परिवार इस दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व रखते हैं कि वे राष्ट्र को सांस्कृतिक व सामाजिक दृष्टि से सबल बनाने में योगदान देते हैं। जातकों में पारिवारिक जीवन का बड़ा विशद एवं सुंदर चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिससे संयुक्त परिवारों की व्यवस्था का ही ज्ञान होता है। एक संयुक्त परिवार में कुलपति के संरक्षण में उसकी पत्नी (पत्नियाँ), अविवाहित पुत्र–पुत्रियाँ और विवाहित पुत्र तथा उनकी वधुएं रहती थी। 'उरंग जातक' में संयुक्त परिवार की परिभाषा स्पष्ट हो जाती है, यथा ब्राहमण कुल में छः सदस्य थे– कुलपति (बोधिसत्व), भार्या, पुत्र, पुत्री, पुत्र–वधु और दासी। वे परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे। जातककालीन संयुक्त परिवार में दो पीढियों के सदस्य प्रेमपूर्वक जीवन–यापन करते थे। दास–दासी भी पारिवारिक व्यवस्थाओं, परम्पराओं का पालन करते थे। एक जातक में कुलपति, पुत्र, पुत्री के व्रत करने के साथ–साथ दास तथा मजदूरी लेकर कार्य करने वाली दासी ने भी अखण्ड पंचशीलों का पालन किया।

विवेचन

प्राचीन भारत में अनादि काल से संयुक्त व्यवस्था रही है। सामान्य रूप से संयुक्त परिवार हिन्दुओं का विशेष लक्षण रहा है। भारत में परिवार का विकास बहुत–कुछ इसी आधार पर हुआ है जिससे संयुक्त परिवार भी आबद्ध रहा है। संयुक्त परिवार के अंतर्गत चार पीढ़ियों तक के सदस्य रहते रहे हैं और सामान्य सम्पत्ति में भ. ागीदार होते रहे हैं। वस्तुतः यह संस्था भारत में अत्यंत प्राचीन काल से है सिका स्वरूप आदिम साहित्य ऋग्वेद में एक स्थल पर पुरोहित विवाह के समय वर–वध ू को आशीर्वाद देते हुए कहता है, ''तुम यहीं घर में रहो, वियुक्त मत होओ, अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते और आनन्द मनाते हुए समस्त आयु का उपभोग करो।'' यह भी कहा गया, ''तुम सास, ससूर, ननद और देवर पर शासन करनेवाली रानी बन। ''यह भी कथन इस बात को प्रमाणित करते हैं कि पूर्ववैदिक काल में संयुक्त परिवार था, जिसमें माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहन और पुत्र–पुत्री सभी रहते थे और बाद में होनेवाला उनका परिवार भी निवास करता था। इस तरह संयुक्त परिवार में एक ही रक्त संबंध के सदस्य सम्पत्ति में समान अधिकार रखते थे, धर्म–पूजा करते थे और उनका एक साथ भोजन बनता था। यही नहीं, संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियॉ रहती थीं जो पारस्परिक अधिक. ारों और दायित्वों के माध्यम से अपने सदस्यों को एक दूसरे से आबद्ध किये हुए थीं। संयुक्त परिवार की यह परम्परा आज भी वर्तमान है, जिसमें कई पीढ़ियॉ हैं और कहीं–कहीं पचास से ऊपर सदस्य हैं तथा जिनका खाना–पीना, रहना और आय–व्यय एक साथ मिला हुआ है। इस प्रकार परिवार संस्था के प्राथमिक कार्य थे–(1) स्त्री–पुरूष के यौन संबंध को विहित और नियमित करना, (2) संतोनोत्पत्ति पालन–पोषण और संरक्षण, (3) गृहस्थ जीवन में स्त्री–पुरूष का सहवास और संयोजन तथा (4) सम्मिलित सम्पत्ति में परिवार के सदस्यों को समान भागीदार बनाना।

विवाह–संबंधी नातेदारी के अन्तर्गत न केवल विवाह–संबंध द्वारा पति–पत्नी ही आते थे बल्कि इन दोनों परिवारों के अन्य संबंधी भी आ जाते थे। जब एक व्यक्ति विवाह करता था तो उसे स्वभावतः यह पता चलता था कि विवाह नामक संस्था ने न केवल दो स्त्री–पुरूष के बीच संबंध स्थापित किया, बल्कि इन दोनों से संबंधित अन्य व्यक्ति एक–दूसरे से सम्बद्ध हो गए। उदाहरणार्थ, विवाह के पश्चात् एक पुरूष केवल एक पति ही नहीं बनता, बल्कि बहनोई, दामाद, जीजा, फूफा, ननदोई, मौसा, साढू आदि भी बन जाता थें। इसी प्रकार एक स्त्री भी विवाह के पश्चात् पत्नी बनने के अलावा पुत्र–वधू, भाभी, देवरानी, जेठानी, चाची, मामी आदि भी बन जाती थी। इनमें से प्रत्येक संबंध के आधार दो व्यक्ति था, जैसे साला–बहनोई, सास–दामाद, साली–जीजा, देवर–भाभी, पति–पत्नी, सास–वधू आदि। इस प्रकार के विवाह द्वारा सम्बद्ध समस्त संबंधियों या नातेदारी को विवाह–संबंधी नातेदारी कहा जाता था।

रक्त–संबंधी नातेदारी के अन्तर्गत वे लोग आते थें जो समान रक्त के आधार पर एक–दूसरे से संबंधित हों। उदाहरणके लिए माता–पिता और उनके बच्चों के बीच अथवा दो भाईयों के बीच या दो भाई–बहन के बीच का संबंध रक्त के आधार पर रही आधारित था। इस संबंध में यह भी स्मरणीय था कि रक्त–संबंधी नातेदारों में रक्त–संबंध वास्तविक भी हो सकता था और काल्पनिक भी। दूसरे शब्द में रक्त–संबंध केवल प्राणिशास्त्रीय आधार पर ही नहीं, अपितु समाजशास्त्रीय आध ार पर भी स्थापित हो सकता था। उदाहरणार्थ, जिन समाजों में बहुपति विवाह का प्रचलन था वहाँ प्राणिशास्त्रीय आधार पर यह निश्चित करना असम्भव था कि कौन–सा बच्चा किस पति का था। इसलिए वहाँ प्राणिशास्त्रीय पितृत्व को गौण मानकर समाजशास्त्रीय पितृत्व को गौण मानकर समाजशास्त्रीय पितृत्व को अधिक मान्यता दी जाती थी। नीलगिरी की बहुपति–विवाही टोडा जनजाति में सामाजिक पितृत्व का विशेष संस्कार ' पुरसुतपिमी' द्वारा निश्चित किया जाता था। जो व्यक्ति गर्भवती स्त्री को उसके प्रसव के पाँचवें महीनें में धनुष–वान भेंट करता था, वही उस स्त्री की होने वाली सभी संतानों का पिता तब तक कहलाता रहता था जब तक दूसरा कोई पति उसी प्रकार का संस्कार न करे। ईसाई मत के प्रारंभ होने से पहले जर्मन नियम के अनुसार एक बच्चें उस समय तक उस परिवार का सदसय नहीं बन सकता था, जब तक पिता कुछ सामाजिक संस्कारों के द्वारा उसे अपना पुत्र स्वीकार नहीं करता। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में एक कुल की स्त्रियाँ दूसरे कुल की भावी पत्नियाँ समझी जाती थी, इसलिए वहाँ के लोग उन समस्त पुरूषों के लिए, जो उनकी माताओं के भावी पति हो सकते थे, 'पिता' शब्द का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार प्रायः सभी समाजों में बच्चों को गोद लेने की प्रथा थी। गोद लिये हुए बच्चों के साथ भी माता–पुत्र या स्त्री आदि का संबंध स्थापित हो जाता था जो वास्तविक रक्त संबंध नहीं बल्कि अनुमानित रक्त संबंध पर आधारित होता था।

संयुक्त परिवार में अनेक सदस्य होते थे। उन सदस्यो ंके सहयोग और समर्थन से परिवार का विकास होता था। माता–पिता, पति–पत्नी और पुत्र–पुत्री के संयोजन से इसकी संरचना सार्थक होती थी। वस्तुतः इन सदस्यों के संयोग से ही परिवार का उत्कर्ष होता था।

पिता– कुटुम्ब का संचालक, कार्यो का संयोजक और धन–सम्पत्ति का व्यवस्थापक परिवार का ही सबसे वरिष्ठ सदस्य होता था, जो कर्ता कहा जाता था। प्रायः पिता ही इस पद को सुशोभित करते हुए उत्तरदायित्व ग्रहण करता था। उसका परिवार पर पूर्ण अधिकार और स्वत्व होता था। परिवार के सभी सदस्य उसे आर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वह गृहपति या 'गृहस्वामी' भी कहा जाता था। समाज में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसका मान और महत्तव असाधारण था। वह अपने कार्यो से परिवार का निर्ववाद सर्वोच्च सम्मानित व्यक्ति था। कुटुम्ब का भरण–पोषण, देख–रेख शिक्षण– प्रशिक्षण और रक्षण–संरक्षण वहीं करता था। इस. ीलिए उसे संतान की रक्षा करनेवाला कहा गया। विनय, रक्षण और भरण, पिता के तीन कार्य बताये गए। ऋग्वेद में पिता त्राता, खाद्य–सामग्रीदाता और पोषक के रूप में उल्लिखित है। अतः तद्युगीन समाज में पिता की गरिमा यशपूर्ण थी।

माता– हिन्दू समाज में माता का स्थान अत्यंत ऊँचा, गरिमायुक्त और महत्त्वशाली रहा है। कोटुम्बिक जीवन की वह अटूट कड़ी है, जिससे कुटुम्ब के सभी सदस्य जुड़े हैं। कुछ मानों में वह पिता से अधिक माननीय और प्रतिष्ठायुक्त है। संतान को पिता की तुलना में माता से अधिक अपनत्व होता है। नौ महीने पेट में रखने के कारण माता को भी अपनी संतान से अधिक मोह होता है। अतः कुटुम्ब की संरचना में माता का अभूतपूर्व योग है, जो उसकी घनिष्ठता, अपनत्व, उत्सर्ग और स्नेह का प्रतीक है।

प्राचीन काल में माता का यही उत्कृष्ट स्वरूप रहा है। निर्माण और संवृद्धि से उसका अन्योन्याश्रित संबंध था। संतान का जन्म, लालन–पालन, शिक्षा–दीक्षा और भरण–पोषण उसी से होता रहा है। वेदों में माता का अभिनन्दन किया गया है। भगवान् के पूजन में उसे पिता के साथ–साथ माता भी कहा जाता था। पुत्र को माता के मनोनुकूल रहने की सलाह दी जाती थी। उसी प्रतिष्ठा और गरिमा ऐसी थी कि वह व्यवहार में सर्वदा 'पिता' शब्द के पहले व्यवहत होती रही। जब ब्रह. ाचारी अध्ययन समाप्त कर लेता था तो आचार्य उसे यह निर्देश देता था कि वह देवता की तरह माता की पूजा करे। धर्मसूत्रों में माता की मर्यादा और प्रतिष्ठा का विशद चित्रण है। महाकाव्यों ने माता के मान और सम्मान का व्यापक निध ार्ारण किया है। 'रामायण' में राम की माँ कौशल्या का माता के रूप में भव्यता ओर दिव्यता सराहनीय है। परिवार और संतान के प्रति उसके कर्त्तव्य और उत्सर्ग उल्लेखनीय हैं। धर्मसूत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरू कहा गया, क्योंकि संतान अपनी प्रारम्भिक शिक्षा मॉ से ही ग्रहण करती है। महाभारत में कहा गया है कि आचार्य सदा सद श्रोत्रियों से बढ़कर है, पिता दस उपाध्यायों से अधिक महत्व रखता है

Volume : 4 | Issue : 11 | November 2015 • ISSN No 2277 - 8179

और माता की महत्ता दस पिताओं से भी अधिक है।

पति– प्राचीन हिन्दू परिवार में पति का स्थान पत्नी के साथ–साथ आकलित होता रहा है। किन्तु पति का प्रभुत्व पत्नी की तुलना में क्रमशः बढ़ने लगा और समाज में उसकी महत्ता स्थापित हो गई। अर्जन करने के कारण पति कुटुम्ब की सारी व्यवस्था देखता था और परिवार के सदस्यों को अपने विचारों तथा कार्यो से प्रभावित करता था। स्त्री पर उसकी सर्वतोमुखी प्रभुता थी और वह पत्नी के लिए 'देवता' माता जाता था। पति का 'देवता' का स्वरूप अत्यंत प्रांजल और विशिष्ट था। कुटुम्ब के सदस्यों के प्रति उसका व्यवहार उदार और सहानुभूतिपूर्ण होता था। वैदिक युग में वह पत्नी का 'सखा' था। 'दम्पत्ति' के रूप में वह कुटुम्ब की देखभाल करता था। और पत्नी के समान स्वत्व को स्वीकार करता था। पूर्वमध्ययुगन भाष्यकारों और लेखकों ने भी पति के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य का सम्यक् चित्रण किया है। पत्नी और परिवार का भरण–पोषण पति का प्रधान कर्त्तव्य था। मेधा तिथि ने मनु पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, ''वृद्ध माता–पिता, साध्वी भार्या और शिशु का पालन सैकड़ों अकार्य (अनुचित) कार्य करके भी होना चाहिए।'' पुरूष प्रत्येक स्थिति में अपनी पत्नी का ध्यान रखता था तथा कठिन और विपरीत परिस्थितियों में अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहता था। महाकवि भवभूति–कृत उत्तररामचरित् में सीता के लिए राम का कथन है कि जो अद्वैत (अन्योन्य), सुख–दुःख तथा सभी अवस्थाओं में अनुकूल, हदय विश्रामप्रद, वृद्धावस्था से अहार्य रसवाला तथा कालक्रम से आवरण (संकोच) के हटने से स्नेहसार में स्थित दाम्पत्य प्रेम है वह जिसे प्राप्त हो गया, उस सौभाग्यशाली मनुष्य का कल्याण हो। यह कथन इस बात का प्रमाण है कि पुरूष अपनी पत्नी के प्रति स्नेह और प्रेम से उत. सर्जित रहता था जो उसकी एकनिष्ठता; दायित्व और कर्त्तव्यपरायणता व्यक्त करता है। वस्तुतः पुरूष के लिए वह प्राणों से बढ़कर प्रिय थी।

पत्नी– कुटुम्ब के सदस्यों में पत्नी की अभूतपूर्व महत्ता रही है। वह 'जाया' और 'जानि' भी कही जाती थी। कुटुम्ब का विकास और महत्त्व उसी से था। इसीलिए वह ऋग्वेद में 'घर' मानी गई। वस्तुतः पत्नी ही घर की आत्मा और प्राण थी। यही नहीं, वह गृह की साम्राज्ञी भी थी। परिवार के सभी कार्यो में उसका सक्रिय सहयोग होता था। वह पुरूष का आधा भाग मानी गई थी। वह पुरूष की सर्वोतम सखा थी। उसे धर्म और काम का मूल स्वीकार किया गया तथा संसार–सागर तरने का साधन। पत्नीवाले गृहस्थ के लिए ही धार्मिक क्रियाएँ और यज्ञादि करने का निर्देश था। ऐसा ही गृहस्थ श्री सम्पन्न होकर आमोद करता था। प्रियवादिनी पत्नियॉ एकांत में पति की मित्र थी निर्जन वन में पथिक का विश्राम–स्थल। पत्नीयुक्त पुरूष का विश्वासी पत्नी थी। पुरूष की गति भार्य से ही बनती थी। वह गृह की शोभा और कान्ति थी। शास्त्रकारों ने कहा है कि अपत्य (सन्तान उत्पन्न करना), धर्म, सेवा, उत्तम सुख (रति), पितरों का और अपना स्वर्ग भार्या के ही अधीन था। ऐसी भार्या स्वभावतः पूज्य थी। वस्तुतः भार्या वही कही गई जो घर की रक्षा करती थी , जो पति को प्राण के समान समझती थी और सन्तान प्रजन्ति करती थी।

पुत्र – हिन्दू परिवार में पुत्र का अत्यधिक महत्त्व रहा है क्योंकि उससे कुल और वंश का वर्द्धन और उत्कर्ष होता है। कुटुम्ब का उद्भव विवाह से होता है और विकास संतान से। संतान से कुटुम्ब की अभिवृद्धि होती है और उसकी पूर्णता का लक्ष्य भी पूरा होता है। पुत्र की अभिलाषा करने के कारणों में सबसे प्रधान कारण यह था कि उससे परिवार का पोषण, रक्षा और निरंतरता होती थी। पुत्र से ही परिवार की धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। वही उत्तराधिकारी होता है। पुत्र ही अपने पिता की जीर्णावस्था में देखभाल करता है और उसकी मृत्यु के बाद परिवार का संचालन करता है।

पुत्री– पुत्री अथवा कन्या का स्थान हिन्दू संयुक्त परिवार में पुत्र की तुलना में उपेक्षणीय और दयनीय रहा है। उसके समाजिक और आर्थिक अधिकार अपेक्षाकृत गौण रहे हैं। उसे दुःख संताप का करण माना जाने लगा। समाज में उसपर अनेक प्रकार के नियंत्रण और बंधन प्रारंभ हो गए। वैदिक युग से कन्या इन्हीं विषय विडम्बनाओं और झंझावातों से छली जाती रही और कठिन परिस्थितियों से उलझती रही। पुत्री के लिए ये समस्त चिन्ताएँ उनके विवाह को लेकर की जाती हैं। उचित वर की तलाश करने से लेकर दहेज, दान, कन्या का श्वसुर के यहाँ होनेवाला आचरण और व्यवहार सभी बातें चिन्ता के रूप में पिता के अन्तस् में उभड़ती हैं। बावजूद इसके, पिता अपनी पुत्री को प्राण के समान समझता था। देवयानी अपने पिता का प्राथ थी। द्रा. `पदी भी अपने पिता से अगधि प्रेम करती थी। किन्तु, फिर भी कन्या प्राचीन काल से हिन्दू परिवार की प्रधान समस्या रही है, साथ ही सभी लोगों की प्रियपात्र भी। इसमें इसमें कोई संदेह नहीं कि परिवार में उसकी समुचित प्रतिष्ठा और महत्ता थी।

निष्कर्ष

किसी राष्ट्र के निमार्ण में उस राष्ट्र के संगठित, सुव्यवस्थित एवं मधुर पारिवारिक जीवन का अत्यधिक योगदान होता है। प्राचीन भारत में अनादि काल से संयुक्त परिवार व्यवस्था रही है। सामान्य रूप से संयुक्त परिवार हिन्दुओं का विशेष लक्षण रहा है।घर का आर्थिक प्रबंध, भोजन, वस्त्र आदि जुटाना, सदस्यों के भावी सामाजिक, धार्मिक जीवन निमार्ण आदि मुख्य पारिवारिक कर्तव्यों के संचालन का मुख्य उत्तरदायित्व गृहपति अथवा गृहपत्नी का ही था। संतान के भावी जीवन–निर्माण में गृहपति और गृहपत्नी दोनों को ही पूर्ण अधिकार प्राप्त था। प्राचीन भारत में पारिवारिक जीवन, दाम्पत्य जीवन एवं नातेदारी व्यवस्था अत्यंत मधुर था।माता–पिता, पति–पत्नी, भाई'बहन, सास–ससुर–बहू एवं अन्य रिश्ते–नातेदारों के मध्य मधुर एवं आदर्श संबंध स्थापित था। अर्थात प्राचीन भारत में पारिवारिक व्यवस्था सफलतापूर्वक चल रही थी तथा संयुक्त परिवार को ही आदर्श परिवार माना जाता था।

आभार–प्रदर्शन

मैं, डॉ॰ विशम्भर झा विभागाध्यक्ष तथा सभी प्राध्यापक इतिहास विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा के प्रति आभार प्रकट करती हूँ कि उक्त कार्य में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से इन्होंने मेरा सहयोग किया है।

REFERENCE

1. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली 2008 2. हरिदत्त वेदालंकर, भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास, एम. एन. पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर 2007 3. शिवस्वरूप सहाय, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, मोतीलाल बना., दिल्ली, 2004 4. कैलाशचन्द्र जैन, प्राचीन भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भौगोलिक अध्ययन, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2008 5. के. पी. एस. विश्वनाथन, नातेदारी, विवाह एवं परिवार, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2012 6. डा. निशांत सिंह, भारतीय महिलाएँ– एक सामाजिक अध्ययन, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2009 7. के. एम. कापड़िया, भारत वर्ष में विवाह एवं परिवार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963 8. श्यामचरण दुबे, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली 1993 9. रामा अहूजा, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, राउत पब्लिकेशन, जयपुर एवं नई दिल्ली पृ. सं.–09